प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में शैक्षिक वातावरण का आयाम

* डॉ. हरकेश बैरवा

प्राचीन भारतीय ऋषि–मनीषियों ने अनुभव किया कि सुसंस्कृत, सुसम्पन्न एवं सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए बालक को शिक्षा–दीक्षा एवं आचार–व्यवहार का ज्ञान देना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा ही चारित्रिक दूषणों को दूर कर व्यक्तित्व को निर्मल एवं प्रभावशाली बनाती है। जिस प्रकार गहरी खदानों से निकला पाषाणरूपी हीरा भली–भाँति तराशने पर ही प्रकाशोज्ज्वल बहुमूल्य हीरे के रूप में कायित होता है, उसी प्रकार जड़, अबोध एवं अज्ञानी मानव भी शिक्षा प्राप्त करके ही परिष्कृत एवं परिमार्जित होता है। डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार शिक्षा शुद्ध उच्चारण (ध्वनि) का शास्त्र है। स्वर और व्यंजनों का शुद्ध उच्चारण शब्दों के अर्थ का ठीक–ठीक बोध कराता है।[1] अतः शिक्षा मनुष्य में उच्चारण, भाषण, स्मरण, धारण, तात्पर्यभावबोध आदि क्षमताओं को प्रशंसनीय रूप से बढाती है।

शिक्षा शब्द 'शिक्ष्' विद्यापादाने धातु में 'अ+टाप्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ किसी विद्या को सीखने या सिखाने की क्रिया एवं गुरु के निकट विद्याभ्यास या विद्या का ग्रहण करना है अर्थात् जिस प्रणाली से व्यक्ति विद्या ग्रहण करता है, उसे शिक्षा कहते हैं। शिक्षा का अर्थ अध्ययन करना, अध्यापन कराना तथा किसी कार्य को करने के योग्य होने की इच्छा या निष्णात् होने की क्रिया से लिया है।

शिक्षा शब्द का प्रयोग मोटे तौर पर दो रूपों में प्रयोग में लाया जाता है– व्यापक रूप तथा संकुचित रूप में। व्यापक अर्थ में शिक्षा किसी समाज में सदैव चलने वाली सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का विकास, उसके ज्ञान एवं कौशल में वृद्धि एवं व्यवहार में परिवर्तन किया जाता है और इस प्रकार उसे सभ्य, सुसंस्कृत एवं योग्य नागरिक बनाया जाता है। मनुष्य प्रतिक्षण नवीन अनुभव प्राप्त करता है व करवाता है, जिससे उसका प्रति दिन का व्यवहार प्रभावित होता है। उसका यह सीखना–सिखाना विभिन्न समूहों, उत्सवों, पत्र–पत्रिकाओं, रेडियो, टेलीविजन आदि से अनौपचारिक रूप से होता है। यही सीखना–सिखाना शिक्षा के व्यापक तथा विस्तृत रूप में आते हैं। संकुचित अर्थ में शिक्षा किसी समाज में एक निश्चित समय तथा निश्चित स्थानों (विद्यालय, महाविद्यालय) में सुनियोजित ढंग से चलने वाली एक सोद्देश्य सामाजिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा विद्यार्थी निश्चित पाठ्यक्रम को पढ़कर संबंधित परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना सीखता है।

भारतीय शैक्षिक पद्धति में शिष्यों को गुरुकुल में निवास करके न्यूनतम बारह वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करते हुए अध्ययन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त विशेषज्ञता प्राप्ति हेतु चौबीस, छत्तीस, अड़तालिस या आजीवन तक अध्ययन कर सकता था। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में शैक्षिक वातावरण के विविध आयाम रहे है–

शिक्षारम्भ करने का समय – शिक्षारम्भ शब्द के अनेक पर्याय माने हैं– अक्षरारम्भ, अक्षरस्वीकरण, अक्षरलेखन, वर्णमाला व अंकमाला का अभ्यास आदि। बालक के पाँच वर्ष पूर्ण कर लेने पर शिक्षारम्भ का समय माना गया है। काशीनाथ भट्टाचार्य के मतानुसार देवोत्थान अर्थात् कार्तिक शुक्ल एकादशी से लेकर आषाढ शुल्क एकादशी पर्यन्त पाँच वर्ष पूर्ण करने वाले बालक को शिक्षारम्भ करनी चाहिए। अतः शिक्षारम्भ के लिए गुरुवार श्रेष्ठ माना जाता है,

सूर्य–शुक्रवार मध्यम, बुध और चन्द्रवार उपविद्या के लिए ग्राह्य माने हैं, शनि और मंगलवार का सदैव त्याग करना चाहिए।[2]

शिक्षा की पाठ्य वस्तु – प्राचीनकाल में शिक्षा की पाठ्य वस्तु विविध रही है। यथा– चार वेद, छः वेदांग, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, मीमांसा, न्याय, इतिहास, गाथासाहित्य आदि का अध्ययन कराया जाता था। आज के विद्यार्थी भी विभिन्न विषयों को पढ़ते हैं।[3]

शिक्षण का वातावरण – शिष्य शिक्षारम्भ होने के पहले व बाद में शास्त्रोक्तविधि से गुरु के चरण अवश्य स्पर्श करते थे। गुरु की आज्ञा पाकर शिष्य उनकी दाहिनी ओर पूर्व की तरफ मुख करके या उत्तर की ओर मुख करके बैठते। प्रारम्भिक शिक्षण हेतु शिक्षार्थीयों को शिक्षाध्ययन से पूर्व अपने दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना चरण और बाँयें हाथ से गुरु का बायाँ चरण स्पर्श करते हुए गुरु से निवेदन करते 'अधीहि भो' (श्रीमान् मुझे पढ़ाओ) तथा गुरु भी 'भो अधीष्व' (हे शिष्य! पढ़ो) ऐसा कहकर अध्ययन आरम्भ कराते और 'विरामोऽस्तु' (अब पढ़ना समाप्त हो) ऐसा कहकर अध्ययन को समाप्त करते थे। शिष्य को शिक्षारम्भ एवं अन्त में 'ऊँ' शब्द का उच्चारण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व 'ऊँ' शब्द का उच्चारण न करने से शिक्षा धीरे–धीरे नष्ट हो जाती है और समाप्ति पर 'ऊँ' का उच्चारण न करने से शिक्षा ठहरती (स्थिर) नहीं है।[4]

वैदिककाल में शिक्षण कार्य मौखिक होता था, पढ़ने वाला विद्यार्थी गुरु की बातें उसी प्रकार दोहराता, जिस प्रकार एक मेंढ़क टर्राने से दूसरे मेंढ़क की वाणी पकड़ता है। वेदाध्ययन का तात्पर्य केवल मंत्रों को कण्ठस्थ कर लेना नहीं, प्रत्युत्त अर्थ भी समझना होता है। निरुक्तकार की मान्यतानुसार जो वेद पढ़कर उसके अर्थ को नहीं जानता वह बोझ को ढ़ोने वाला रुण्ड वृक्ष है अर्थात् उस वृक्ष के सदृश है जो व्यर्थ ही फल–पुष्पों से तो लदा हुआ है पर उनके उपभोग से वंचित है। जो व्यक्ति वेद के अर्थ को जान लेता है, वह सारे कल्याण को प्राप्त करता है, क्योंकि उस ज्ञान से उसके सारे पाप धुल जाते है। इस कथन का तात्पर्य है कि मानव को शिक्षा ग्रहण करने के साथ–साथ उसके भाव को भी जानना जरुरी है, क्योंकि उस भाव में छुपा उपदेश स्वयं व समाज के हित में होता है।[5]

शिक्षण शुल्क – प्राचीनकाल में शिष्यों से कोई शिक्षण–शुल्क नहीं लिया जाता था, इतना जरुर था कि वे गुरुकुल में रहते समय आश्रम के विभिन्न कार्यों में यथाशक्ति सेवापूर्वक अपना योगदान देते थे। शिक्षा समाप्ति पर शिष्य से यह अवश्य अपेक्षित था कि वह अपनी सामर्थ्यानुसार गुरु को कुछ दक्षिणा में अर्पित करे। गुरु उस दक्षिणा को ले या न ले यह उसकी इच्छा पर निर्भर था। शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् दक्षिणा देना गुरु को प्रसन्न करना मात्र नहीं था अपितु उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना था। शिष्य अध्ययनकाल में गुरु को कोई शुल्क न देते थे, जबकि व्रतपूर्तिकाल पर गुरु से आज्ञा प्राप्त करके गुरुदक्षिणा अवश्य दे, यदि कोई शिष्य निर्धन हो तो वह गुरुदक्षिणा से मुक्त रहता था, क्योंकि उसकी सेवा, गुरुभक्ति एवं अध्ययनशीलता को ही गुरुदक्षिणा मान लिया जाता था।[6] अतः उक्त अभिमत से स्पष्ट है कि गुरु शिक्षा के लिए किसी प्रकार के शुल्क लेने की प्रतिज्ञा नहीं कराता था। यह शिष्य के ऊपर निर्भर होता था कि जब वह अपनी शिक्षा पूर्ण कर ले, तब अपने गुरु को प्रसन्न करने हेतु गुरुदक्षिणा के रूप में कुछ वस्तु भेंट स्वरूप प्रदान करे।

परीक्षा का वातावरण – प्राचीनकाल में वर्तमान काल के समान परीक्षा प्रणाली का प्रचलन नहीं था। शिष्य की परीक्षा गुरुकुल में प्रवेश लेने के समय से ही प्रारम्भ हो जाती थी। शिष्यों के पारस्परिक संवाद, व्याख्यान व प्रश्नोत्तरों आदि से उनकी योग्यता परख ली जाती थी। कदाचित् अपने–अपने ढंग से गुरुजन शिष्यों की परीक्षा लिया करते थे। गुरुकुलों में अतिथि आचार्यों और विद्वानों के समक्ष शिष्य द्वारा तर्कपूर्वक अपना पक्ष प्रस्तुत करने को भी परीक्षा का एक प्रकार माना जाता था। जिससे प्रभावित गुरुजन उनको पूर्ण ज्ञाता जानकर शिक्षाग्रहण समाप्ति की अनुमति दिया करते थे।

स्वतंत्र भारत का शैक्षिक वातावरण तीन स्तरीय रहा है– बेसिक, सैकेंडरी और हायर एजुकेशन। संविधान निर्माताओं ने संविधान में छः मौलिक अधिकार दिए, उनमें एक शिक्षा का अधिकार और जोड़ा गया था। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों के अनुच्छेद 45 में लिखा है कि सरकार को संविधान की स्थापना के 10 वर्षों के भीतर चौदह वर्ष की आयु तक सभी बच्चों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। किन्तु इसके साकार नहीं होने पर 2002 के 86वें संविधान संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद 21A को अधिनियमित किया। एक मार्गदर्शक सिद्धांत होने के बजाय, इसने बुनियादी शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया। उच्चशिक्षा के तीन चरण स्नातक, परास्नातक और स्नातकोत्तर (एमफिल/पीएचडी) हैं।

प्राचीनकालीन गुरुकुल शान्ति, सदाचार, शिक्षा, शिक्षार्थी, शिक्षक आदि के लिए आदर्श एवं मर्यादाओं के मूर्तरूप थे। विद्यासमाप्ति के उपरान्त शिष्य शिक्षा में निपुण, प्रखरबुद्धि वाला, कर्त्तव्य में आदर्शनिष्ठ, शक्ति में बलसम्पन्न, व्यवहार में कुशल तथा चरित्रवान बनते थे, इसी कारण तत्कालीन भारतीय जन जीवन धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक, भौतिक, शारीरिक आदि रूपों में समृद्ध रहता था। आधुनिक समय में विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों एवं अन्य शिक्षण संस्थाओं में अध्ययन–अध्यापन कार्य होता है, परन्तु यहाँ गुरुकुल की भाँति उपनयन संस्कार की अनिवार्यता, निःशुल्क शिक्षा, एकता की भावना, अविवाहित रहने का प्रतिबन्ध, गुरुसेवाभाव, गुरु एवं शिष्य का सम्यक् सम्पर्क, अनुशासन, स्वावलम्बन आदि गुणों का अभाव देखा गया है, जिसके कारण समाजिक सरोकारों में कमी आ रही है। प्राचीन भारत की शिक्षा का वातावरण प्रत्येक बालक में चरित्र–निर्माण, आत्म–विश्वास, आत्म–निर्भरता, आत्म–नियंत्रण तथा विवेक निर्णय, शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा अध्यात्मिक आदि अनके गुणों एवं शक्तियों को पूर्णतः विकसित करने का व्यापक दृष्टिकोण निहित था। वर्तमान शिक्षा का वातावरण ऐसा हो जिससे मनुष्य के हृदय में विद्यमान निकृष्ट भावना का परिमार्जन होकर उसकी बुद्धि, शरीर एवं मन पवित्र बन सके।

***प्रोफेसर**
संस्कृत विभाग
राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. हिन्दू धर्म कोश, पृष्ठ 627
2. निर्णयसिन्धु तृतीय परिच्छेद
3. आपस्तम्बधर्मसूत्र 2.4.8.10–11, विष्णुस्मृति 30.36, याज्ञवल्क्यस्मृति 1.3, वृद्धगौतमस्तृति 15.52–54
4. गौतम धर्मसूत्र 1.1.49, 54–55, 58, मनुस्मृति 2.71–74
5. स्थाणुरयंभारहारःकिलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलंभद्रमश्नुतेनाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। (निरुक्त1.6)
6. आपस्तम्बधर्मसूत्र 1.2.7.19, मनुस्मृति 2.245
7. भारतीय संस्कृति, डॉ.किरण टण्डन ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली 1994
8. भारतीय संस्कृति, डॉ. प्रीतिप्रभा गोयल, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर 2011
9. वैदिक साहित्य और संस्कृति, डॉ. वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली 1989